

○ वीतराग-विज्ञान (अगस्त-मासिक) * 26 जुलाई 2011 • वर्ष 30 • अंक 1

सम्पादकीय

नियमसार : एक अनुशीलन

(गतांक से आगे)

इस गाथा और उसकी टीका के संदर्भ में विचारणीय बिन्दु ये हैं कि गाथा में जीवदि पद का प्रयोग है, जिसका सीधा-सच्चा अर्थ जीता है होता है, जिन्दा रहना होता है; पर यहाँ इसका अर्थ जन्मना - जन्म लेना किया है। यदि जीवदि का अर्थ जिन्दा रहना माने तो यहाँ जीवन-मरण - ऐसी जोड़ी बनती है; परन्तु जीवदि का जन्मता है - यह अर्थ करने से जन्म-मरण - ऐसी जोड़ी बनी।

गाथा की ऊपर की पंक्ति में मरदि पद का प्रयोग है और नीचे की पंक्ति में मरणं जादि कहा गया है। मरदि का अर्थ मरता है होता है और मरणं जादि का अर्थ मरण होता है या मरण को प्राप्त होता है होता है।

यद्यपि बात लगभग एक ही है; तथापि यहाँ दो जोड़े बनाये गये हैं। पहला जन्म-मरण का और दूसरा मरण होने व मुक्त होने का। इसप्रकार गाथा का अर्थ यह होता है कि जीव जन्म-मरण में अकेला है और मरण तथा मुक्ति में भी अकेला ही है।

टीका में मरण पद के भी दो प्रकार बताये गये हैं। पहला मरण और दूसरा नित्य मरण। एक देह को छोड़कर दूसरी देह धारण करने को मरण और प्रतिसमय आयुर्कर्म के निषेकों के खिरने को, प्रतिसमय आयु के क्षीण होने को नित्यमरण कहा है।

मरण और मुक्ति में यह अन्तर है कि एक देह को छोड़कर दूसरी देह को धारण करने को मरण और देह के बंधन से सदा के लिए मुक्त हो जाने को मुक्ति कहते हैं।

इसप्रकार इस गाथा और उसकी टीका का भाव यही है कि यह आत्मा जन्म से लेकर मरण तक के सभी प्रसंगों में तथा संसारभ्रमण और मुक्ति प्राप्त करने में सर्वत्र अकेला ही है; कहीं भी किसी का किसी भी प्रकार का कोई सहयोग संभव नहीं है। अतः हमें पर की ओर देखने का भाव छोड़कर स्वयं ही अपने हित में सावधान होना चाहिए ॥१०१॥

इसके बाद टीकाकार मुनिराज तथा चोक्तम् - तथा कहा भी है - ऐसा लिखकर एक छन्द लिखते हैं; जो इसप्रकार है -

(अनुष्ठम्)

स्वयं कर्म करोत्यात्मा स्वयं तत्फलमश्नुते ।

स्वयं भ्रमति संसारे स्वयं तस्माद्विमुच्यते ॥५४॥

(दोहा)

स्वयं करे भोगे स्वयं यह आत्म जग माँहि ।

स्वयं रुले संसार में स्वयं मुक्त हो जाँहि ॥५४॥

यह आत्मा स्वयं ही कर्म करता है और उसका फल भी स्वयं ही भोगता है ।
स्वयं संसार में घूमता है और स्वयं ही संसार से मुक्त हो जाता है ।

इस छन्द का भाव पूज्य गुरुदेवश्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“जीव का न तो कोई विरोधी है और न कोई सहायक है । कर्म का उदय जीव को रागादि कराता हो - ऐसा भी नहीं है । जीव अकेला ही रागादिक करता है और स्वयं ही उसका फल भी भोगता है । जिसप्रकार संसार में अकेला ही भटकता है, उसीप्रकार आत्मभान करके मुक्त भी अकेला ही होता है । हजारों मनुष्यों के बीच में हो; तथापि जो भाव करता है, वह स्वयं अकेला ही करता है और उसका फल भी स्वयं अकेला ही भोगता है । ऐसे स्वभाव के भान बिना प्रत्याख्यान नहीं होता ।”

इसप्रकार इस छन्द में यही कहा गया है कि यह आत्मा अपने परिणामों को स्वयं अकेला ही करता है और उनके सुख-दुःखरूप फल को स्वयं ही भोगता है । स्वयं की गलती से संसार में अकेला भटकता है और स्वयं अपनी गलती सुधार कर मुक्त भी हो जाता है ।

इसलिए पर से सहयोग की आकांक्षा छोड़कर हमें स्वयं अपने कल्याण के मार्ग में लगना चाहिए ॥५४॥

इसके बाद टीकाकार मुनिराज उक्तं च श्री सोमदेवपंडितदेवैः - पण्डित सोमदेव के द्वारा भी कहा गया है - ऐसा लिखकर एक छन्द प्रस्तुत करते हैं; जो इसप्रकार है-

(वसंततिलका)

एकस्त्वमाविशसि जन्मनि संक्षये च

भोक्तुं स्वयं स्वकृतकर्मफलानुबन्धम् ।

अन्यो न जातु सुखदुःखविधौ सहायः

स्वाजीवनाय मिलितं विटपेटकं ते ॥५५॥^१

(वीर)

जनम-मरण के सुख-दुख तुमने स्वयं अकेले भोगे हैं ।

मात-पिता सुत-सुता बन्धुजन कोई साथ न देते हैं ॥

यह सब टोली धूर्तजनों की अपने-अपने स्वारथ से ।

लगी हुई है साथ तुम्हारे पर न कोई तुम्हारे हैं ॥५५॥

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ८१६

२. यशस्तिलकचंपूकाव्य, द्वितीय अधिकार, श्लोक ११९

स्वयं किये गये कर्म के फलानुबंध को स्वयं भोगने के लिए तू अकेला ही जन्म और मृत्यु में प्रवेश करता है। अन्य कोई स्त्री-पुत्र-मित्रादि सुख-दुःख में सहायक नहीं होते, साथी नहीं होते। ये सब ठगों की टोली मात्र अपनी आजीविका के लिए तुझे मिली है।

पूज्य गुरुदेवश्री कानजी स्वामी इस छन्द का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“अहो! यहाँ आत्मा का एकत्वस्वरूप बताते हुए वैराग्यवर्णन करते हैं। स्वयं जैसा शुभाशुभ कर्म किया, उसके फल को भोगने के लिए जीव अकेला ही जन्म और मरण में प्रवेश करता है।”

सैकड़ों हरिणों की टोली में सिंह आकर एक को पकड़े, वहाँ अन्य सभी क्या करें? उसीप्रकार आत्मा को भी जन्म-मरण में कोई माता-पिता, स्त्री-पुत्र आदि बिल्कुल सहायभूत नहीं होते। यह तो सब अपनी-अपनी आजीविका आदि को साधने के लिए तुझे धूर्तों की टोली मिली है अर्थात् यदि तू उनके मोह में रुकेगा तो तेरा आत्मा ठगा जायेगा, इसलिए तू अपने एकत्वस्वरूपी आत्मा को जान।

इसके बिना प्रत्याख्यान नहीं हो सकता। अपने आत्मा के अतिरिक्त यदि तू अन्यत्र रुक जायेगा तो तेरी स्वरूपलक्ष्मी लुट जायेगी, इसलिए निमित्तरूप में स्त्री-पुत्रादि को धूर्तों की टोली कहा है।

तेरा आत्मा अनादिकाल से स्वरूप को चूककर संसार में जन्म-मरण कर रहा है, उसमें कोई तुझे शरणभूत नहीं है।”

यहाँ जो कुटुम्बीजनों को धूर्तों की टोली कहा है; वह उनसे द्वेष कराने के लिए नहीं कहा है; उनसे एकत्व-ममत्व तोड़ने के लिए कहा है। वस्तुतः बात तो यह है कि वे तेरा सहयोग कर नहीं सकते। यदि वे तेरा सहयोग करना चाहें, तब भी नहीं कर सकते; क्योंकि प्रत्येक जीव को अपने किये कर्मों का फल स्वयं ही भोगना पड़ता है। कोई जीव किसी दूसरे का भला-बुरा कर ही नहीं सकता।

किसी दूसरे के भरोसे बैठे रहना समझदारी का काम नहीं है। इसलिए अपनी मदद आप करो - यही कहना चाहते हैं आचार्यदेव॥५५॥

इसके बाद एक छन्द टीकाकार स्वयं लिखते हैं, जो इसप्रकार है -

(मंदाक्रांता)

एको याति प्रबलदुरघाञ्जन्म मृत्युं च जीवः
कर्मद्वन्द्वोद्भवफलमयं चारुसौख्यं च दुःखम् ।
भूयो भुंक्ते स्वसुखविमुखः सन् सदा तीव्रमोहा-
देकं तत्त्वं किमपि गुरुतः प्राप्य तिष्ठत्यमुष्मिन् ॥१३७॥

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ८१८

२. वही, पृष्ठ ८१८-८१९

(वीर)

जीव अकेला कर्म घनेरे उनने इसको घेरा है।
 तीव्र मोहवश इसने निज से अपना मुखड़ा फेरा है॥
 जनम-मरण के दुःख अनंते इसने अबतक प्राप्त किये।
 गुरु प्रसाद से तत्त्व प्राप्त कर निज में किया वसेरा है॥१३७॥

जीव अकेला ही प्रबल दुष्टकर्मों के फल जन्म और मरण को प्राप्त करता है। तीव्र मोह के कारण आत्मीय सुख से विमुख होता हुआ कर्मद्वन्द्व से उत्पन्न सुख-दुःख को यह जीव स्वयं बारंबार अकेला ही भोगता है तथा किसी भी प्रकार से सद्गुरु द्वारा एक आत्मतत्त्व प्राप्त करके अकेला ही उसमें स्थित होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री कानजी स्वामी इस छन्द का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“चैतन्य के सहज सुख को चूककर जीव अकेला ही पुण्य-पाप के फलरूप सुख-दुःख को भोगता है। चैतन्यसुख से विमुख होनेवाले को ही पुण्यफल मिष्ट लगता है। चैतन्य को चूककर स्वर्गसुख और नरकदुःख को पुनः पुनः जीव अकेला ही भोगता है।”

जीव अकेला ही गुरुगम द्वारा अपनी पात्रता से जिस-तिस प्रकार एक चैतन्यतत्त्व को पाकर उसमें लीन होता है। तुझे तू अकेला ही रुचे, जैसे भी बने ऐसा करके चैतन्यतत्त्व को प्राप्त कर। जगत से तुझे क्या काम है? गुरुगम से चैतन्यतत्त्व के पाने में तू अकेला है और उसमें स्थिर रहकर प्रत्याख्यान करने में भी अकेला है।”

इस छन्द में भी यही कहा गया है कि यह आत्मा अनादिकालीन तीव्र मोह के कारण आत्मा के आश्रय से उत्पन्न होनेवाले अतीन्द्रिय सुख से विमुख होकर कर्मजन्य सुख-दुःखों को अकेला ही भोग रहा है।

यदि इसे सद्गुरु के सत्समागम से आत्मतत्त्व की प्राप्ति हो जावे तो यह जीव अकेला ही उसमें स्थापित हो सकता है।

स्वयं में स्थापित होना निश्चयप्रत्याख्यान है। इस निश्चयप्रत्याख्यान का कार्य इस जीव को स्वयं ही करना होगा; क्योंकि जब जन्म-मरण में जीव अकेला ही रहता है, संसार परिभ्रमण और मुक्ति प्राप्त करने में भी अकेला ही रहता है तो फिर निश्चय-प्रत्याख्यान में किसी का साथ होना कैसे संभव है ?॥१३७॥

नियमसार गाथा १०२

अब इस गाथा में यह कहते हैं कि मेरा तो एकमात्र भगवान आत्मा ही है, अन्य कुछ भी मेरा नहीं है। गाथा मूलतः इसप्रकार है -

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ८२०

२. वही, पृष्ठ ८२०

एगो मे सासदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो ।

सेसा मे वाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥१०२॥

(हरिगीत)

ज्ञान-दर्शनमयी मेरा एक शाश्वत आत्मा ।

शेष सब संयोगलक्षण भाव आत्म बाह्य हैं ॥१०२॥

मेरा तो ज्ञान-दर्शन लक्षणवाला एक शाश्वत आत्मा ही है, शेष सब संयोग लक्षणवाले भाव मुझसे बाह्य हैं, पृथक् हैं ।

इस गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं-
“यह एकत्वभावना से परिणत सम्यग्ज्ञानी के लक्षण का निरूपण है ।

समस्त संसाररूपी नन्दनवन के वृक्षों की जड़ के आसपास क्यारियों में पानी भरने के लिए जलप्रवाह से परिपूर्ण नाली के समान वर्तता हुआ जो शरीर, उसकी उत्पत्ति में हेतुभूत द्रव्यकर्म व भावकर्म से रहित होने से जो आत्मा एक है, वह त्रिकाल निरुपाधिक स्वभाववाला होने से निरावरण ज्ञान-दर्शनलक्षण से लक्षित कारणपरमात्मा है ।

वह कारणपरमात्मा समस्त क्रियाकाण्ड के आडम्बर के विविध विकल्परूप कोलाहल से रहित, सहज शुद्ध ज्ञानचेतना को अतीन्द्रियरूप से भोगता हुआ शाश्वत रहकर मेरे लिए उपादेयरूप रहता है ।

और जो शुभाशुभ कर्म के संयोग से उत्पन्न होनेवाले शेष सभी बाह्य व अभ्यन्तर परिग्रह हैं, वे सब अपने आत्मा से बाह्य हैं - ऐसा मेरा निश्चय है ।”

इस गाथा के भाव को पूज्य गुरुदेवश्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“जैसे नन्दनवन सदा हरा-भरा रहता है; वैसे ही जिसे शरीर की ममता है, उसे तो संसार में जन्म-मरण होता ही रहेगा; क्योंकि उसकी शरीररूपी जलनाली संसार को नन्दनवन जैसा हरा-भरा बनाये रखेगी । जो शरीर का पोषण करेगा, वह सदा शरीर में रहेगा और अशरीरी सिद्ध कभी भी नहीं हो सकेगा ।”

एक तरफ कारणपरमात्मा बतलाया और दूसरी तरफ शरीर बतलाया । शरीर के कारणभूत द्रव्यकर्म और भावकर्म से रहित कारणपरमात्मा है; अतः आत्मा एक है ।^१

अनन्तान्तकाल से शरीर की ममता कर रहा है, परन्तु शरीर के उन अनन्त रजकणों में से एक भी परमाणु आज तक अपना नहीं हुआ । चाहे जितना परिश्रम करे, तीनकाल के परिश्रम को एकत्र करे; तथापि एक भी परमाणु अपना होनेवाला नहीं है ।

हाँ, यदि आत्मा की रुचि करके आत्मा की प्राप्ति का पुरुषार्थ करे तो अल्पकाल में ही मुक्ति हुए बिना रहे नहीं ।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ८२३

२. वही, पृष्ठ ८२३

अहो ! 'मैं देह से अत्यन्त भिन्न कारणपरमात्मा हूँ' - ऐसा भान यदि न करे तो संसाररूपी नन्दनवन भी सूखनेवाला नहीं है। जैसे अशरीरी सिद्ध भगवान हैं, वैसा ही मेरा आत्मा है; मेरा आत्मा शरीर से तो भिन्न है और शरीर के हेतुभूत द्रव्यकर्म और भावकर्म से भी भिन्न है; इसलिए मैं तो एक हूँ, त्रिकाल एकरूप कारणपरमात्मा ही हूँ; शरीर और पुण्य-पाप तो अनेक हैं और मैं उनसे रहित एक हूँ - ऐसे आत्मा की पहचान करना मुक्ति का उपाय है।^१

चैतन्यस्वरूप के अलावा बाहर के लक्ष से जितने शुभाशुभभाव होते हैं, वे सब क्रियाकाण्ड के आडम्बर हैं। बाहर के लक्ष से तो अनेक प्रकार के विकल्प का कोलाहल होता है। चैतन्य में कोई कोलाहल है नहीं, वह तो उपशमरस का कन्द शान्त...शान्त है, उसमें बाहर का कोई आडम्बर नहीं है। मेरा आत्मा तो उस सब कोलाहल से रहित सहज शुद्ध ज्ञान-चेतना को अतीन्द्रियपने भोगता हुआ शाश्वतरूप से मेरे लिए उपादेयपने रहता है।^२

राग-द्वेष भाव अभ्यन्तर परिग्रह हैं और बाह्य में लक्ष्मी-निर्धनता रोग-निरोग - ये सब बाह्य परिग्रह हैं। वे सभी अन्तरंग-बहिरंग परिग्रह मेरा स्वरूप नहीं है, मैं तो शाश्वत ज्ञान-दर्शनलक्षण से लक्षित त्रिकाली कारणपरमात्मा हूँ। - ऐसा मेरा निश्चय है।

ऐसा निश्चय किये बिना प्रत्याख्यान नहीं होता है।^३

इसप्रकार इस गाथा और उसकी टीका में यही कहा गया है कि मैं ज्ञानदर्शनस्वभावी एक आत्मा हूँ, शेष जो शरीरादि संयोग हैं; वे सभी मुझसे भिन्न हैं। मेरा उनसे कोई संबंध नहीं है।

टीका में अलंकारिक भाषा में बताया गया है कि यह शरीर संसार रूपी बाग को हरा-भरा रखनेवाला है। एक ज्ञानदर्शनलक्षण से पहिचानने में आनेवाला आत्मा - कारणपरमात्मा ही मैं हूँ। अतः इन शरीरादिक संयोगों और रागादिभावरूप संयोगी भावों से भिन्न कारणपरमात्मारूप अपने आत्मा की आराधना में ही रत रहता हूँ।।१०२।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज एक छंद लिखते हैं; जो इसप्रकार है -

(मालिनी)

अथ मम परमात्मा शाश्वतः कश्चिदेकः ।

सहजपरमचिच्चिन्तामणिर्नित्यशुद्धः ॥

निरवधिनिजदिव्यज्ञानदृग्भ्यां समृद्धः ।

किमिह बहुविकल्पैर्मै फलं बाह्यभावैः ॥१३८ ॥

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ८२३

२. वही, पृष्ठ ८२४

३. वही, पृष्ठ ८२५

(वीर)

सदा शुद्ध शाश्वत परमात्म मेरा तत्त्व अनेरा है।
सहज परम चिद् चिन्तामणि चैतन्य गुणों का बसेरा है॥
अरे कथंचित् एक दिव्य निज दर्शन-ज्ञान भरेला है।
अन्य भाव जो बहु प्रकार के उनमें कोई न मेरा है॥१३८॥

मेरा परमात्मा शाश्वत है, कथंचित् एक है, सहज परम चैतन्य-चिन्तामणि है, सदा शुद्ध है और अनंत निज दिव्य ज्ञान-दर्शन से समृद्ध है। यदि मेरा आत्मा ऐसा है तो फिर मुझे बहुत प्रकार के बाह्यभावों से क्या लाभ है, क्या प्रयोजन है, उनसे कौनसा फल प्राप्त होनेवाला है? तात्पर्य यह है कि अपने आत्मा से भिन्न पदार्थों से कोई लाभ नहीं है।

पूज्य गुरुदेवश्री कानजी स्वामी इस छन्द का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“मेरा आत्मा ही चैतन्यचिन्तामणि है, तो फिर बाह्य निमित्तों से अथवा विकल्पों से मुझे क्या प्रयोजन है? मैं अपने चैतन्यचिन्तामणि को लक्ष में लेकर उसमें एकाग्र हो जाऊँ। अरिहन्त परमात्मा भी मेरे लिए बाह्य हैं, मेरे लिए तो मेरा आत्मा ही शाश्वत है और उसी के आश्रय से मुझे लाभ है।

बाह्य समृद्धि को धर्मी अपनी नहीं मानता तथा पुण्य के भावों को भी वह अपने स्वरूप की समृद्धि नहीं मानता, यही प्रत्याख्यान है।^१

चिन्तामणि के समक्ष चिन्तन करने से तो जड़ सामग्री मिलती है; परन्तु धर्मी कहते हैं कि मेरे हाथ में जो चिन्तामणि है, उसमें से वह सब मिले, जो मैं चिन्तन करूँ। इसके अलावा बाहर का कोई पदार्थ मेरा नहीं है, सारा पदार्थसमूह मेरे से बाह्य है, इसलिए मैं तो निज चिन्तामणि का चिन्तन करता हूँ।^२”

इस कलश में भी यही कहा गया है कि जब मेरा भगवान आत्मा ही चैतन्यचिन्तामणि है, सभी चिन्ताओं को समाप्त करनेवाला है तो फिर मैं बाह्य संयोगों से कुछ चाहने की भावना क्यों करूँ ?

मेरा यह भगवान आत्मा न केवल चैतन्य चिन्तामणि है, अपितु शाश्वत है, सदा रहनेवाला है; इन संयोग का वियोग होना तो सुनिश्चित ही है, इनसे मुझे क्या लेना-देना है ? मेरा भगवान आत्मा सदा शुद्ध है, उसमें अशुद्धि का प्रवेश ही नहीं है। अशुद्धि तो संयोगजन्य है, संयोगभावरूप है; उससे भी मेरा कोई संबंध नहीं है॥१३८॥

नियमसार गाथा १०३

अब इस गाथा में अपने दोषों के निराकरण की बात करते हैं।

गाथा मूलतः इसप्रकार है -

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ८२७

२. वही, पृष्ठ ८२७

जं किंचि मे दुच्चरितं सव्वं तिविहेण वोसरे ।
सामाइयं तु तिविहं करेमि सव्वं णिरायारं ॥१०३॥
(हरिगीत)

मैं त्रिविध मन-वच-काय से सब दुश्चरित को छोड़ता ।

अर त्रिविध चारित्र से अब मैं स्वयं को जोड़ता ॥१०३॥

मेरा जो कुछ भी दुश्चरित्र है; उस सभी को मैं मन-वचन-काय से छोड़ता हूँ और त्रिविध सामायिक अर्थात् चारित्र को निराकार करता हूँ, निर्विकल्प करता हूँ ।

इस गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं-

“यह अनागत दोषों से मुक्त होने के उपाय का कथन है ।

भेदविज्ञानी होने पर भी मुझ तपोधन को पूर्व संचित कर्मों के उदय के बल से चारित्रमोह का उदय होने पर यदि कुछ दुश्चरित्र हुआ हो तो उस सभी को मैं मन-वचन-काय की संशुद्धि से छोड़ता हूँ ।

यहाँ सामायिक शब्द चारित्र के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और वह चारित्र तीन प्रकार का होता है - सामायिक चारित्र, छेदोपस्थापना चारित्र और परिहारविशुद्धि चारित्र ।

मैं उस चारित्र को निराकार करता हूँ अथवा मैं जघन्यरत्नत्रय को उत्कृष्ट करता हूँ । नव पदार्थरूप परद्रव्य के श्रद्धान-ज्ञान-आचरणरूप रतनत्रय साकार अर्थात् सविकल्प है; उसे निजस्वरूप के श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठानरूप स्वभावरत्नत्रय के स्वीकार द्वारा निराकार अर्थात् शुद्ध करता हूँ । - ऐसा अर्थ है ।

दूसरे प्रकार से कहें तो मैं भेदोचार चारित्र को अभेदोपचार करता हूँ तथा अभेदोपचार चारित्र को अभेदानुपचार करता हूँ ।

इसप्रकार त्रिविध सामायिक (चारित्र) को उत्तरोत्तर स्वीकृत करने से सहज परमतत्त्व में अविचल स्थितिरूप सहज निश्चयचारित्र होता है । वह निश्चयचारित्र निराकारतत्त्व में लीन होने से निराकारचारित्र है ।”

इस गाथा के भाव को पूज्य गुरुदेवश्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“मैं चैतन्यचिन्तामणि परमात्मा हूँ, रागादिभाव मैं नहीं हूँ - ऐसा प्रथम जिसने निर्णय किया हो, उसको ही रागादि का प्रत्याख्यान होता है । चैतन्य में लीन होने पर वीतरागता प्रगट होती है और रागादि दोषों का प्रत्याख्यान होता है ।”

शुभविकल्प उठे, उसका नाम साकारचारित्र है और विकल्प छोड़कर स्वरूप में लीन होना निराकारचारित्र है ।”

मलिनपर्याय भी त्रिकालीतत्त्व की अपेक्षा से परद्रव्य है और सम्यग्दर्शन-

ज्ञान-चारित्र की पर्याय भी त्रिकालीतत्त्व की अपेक्षा से परद्रव्य है, इनमें से किसी के भी आश्रय से कल्याण नहीं होता; कल्याण तो त्रिकाली ध्रुवतत्त्व के आश्रय से ही होता है। प्रथम ऐसे तत्त्व का निर्णय करके पश्चात् उसमें एकाग्र होने पर मुनिदशा प्रगट होती है।^१

यहाँ मुनिराज कहते हैं कि मैं निजपरमात्मतत्त्व के श्रद्धान-ज्ञान और एकाग्रता द्वारा व्यवहारश्रद्धान-ज्ञान और चारित्र के विकल्प को छोड़ता हूँ अर्थात् राग को छोड़कर रत्नत्रय को शुद्ध करता हूँ। साकाररत्नत्रय को निराकार करता हूँ - इसका अर्थ ऐसा समझना कि साकाररत्नत्रय में जो राग है, उसे छोड़कर स्वभाव के आश्रय से वीतरागरत्नत्रय प्रगट करता हूँ। देखो ! इसका नाम प्रत्याख्यान है और ऐसा प्रत्याख्यान निजस्वभाव के आश्रय से प्रगट होता है।^२

अन्य रीति से कहें तो मैं भेदोपचारचारित्र को अभेदोपचार करता हूँ। भेदोपचार का अर्थ है रागवाला चारित्र, उसको टालकर अभेदोपचार चारित्र प्रगट करता हूँ। अभी अभेद की भावना है, इसलिये उसको भी उपचार कहा और उस अभेदचारित्र की भावना का विकल्प भी छोड़कर स्वरूप में निश्चल होना अभेद-अनुपचारचारित्र है। मैं अपने चारित्र को अभेद-अनुपचार करता हूँ।

इसतरह तीन प्रकार के चारित्र के उत्तरोत्तर अंगीकार करने से सहजपरमतत्त्व में अविचल स्थिरतारूप निश्चयचारित्र होता है। वह चारित्र निराकारतत्त्व में स्थित होने से निराकारचारित्र कहा जाता है। उसमें राग का विकल्प नहीं है; अतः वह मुक्ति का कारण है।

भेदरहित जो त्रिकाली चैतन्यतत्त्व है, उसको यहाँ निराकार कहा है और उसमें लीनतारूप चारित्र भी निराकार है। इसप्रकार द्रव्य और पर्याय दोनों को निराकार कहा है। ऐसा निराकार वीतरागीचारित्र ही मोक्ष का कारण है।^३”

इसप्रकार इस गाथा और उसकी टीका में यही कहा गया है कि मैं शुद्धोपयोगरूप चारित्र में स्थित होता हूँ। इससे चारित्र की कमजोरी के कारण जो अस्थिरतारूप दोष रहा है, वह भी समाप्त हो जावेगा।

यह तो सुनिश्चित ही है कि आचार्य कुन्दकुन्ददेव और मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव श्रद्धान के दोष से तो मुक्त ही थे; क्योंकि वे सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा मुनिराज थे।

चारित्र में भी तीन कषाय चौकड़ी के अभावरूप शुद्धि विद्यमान थी; किन्तु संज्वलन कषाय के उदय के कारण जो थोड़ी-बहुत अस्थिरता रह गई थी, वे उसका

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ८३०-८३१

२. वही, पृष्ठ ८३२

३. वही, पृष्ठ ८३३-८३४

भी प्रत्याख्यान करके पर्याय में भी पूर्ण शुद्ध होना चाहते थे। इसलिए इसप्रकार के चिन्तन में रत थे कि मैं तो ज्ञान-दर्शनस्वभावी आत्मा हूँ, बाह्यभावों में से कोई भी मेरा नहीं है ॥१०३॥

इसके बाद टीकाकार मुनिराज तथा चोक्तं प्रवचनसार व्याख्यायाम् - तथा प्रवचनसार की व्याख्या तत्त्वप्रदीपिका टीका में भी कहा है - ऐसा लिखकर एक छन्द प्रस्तुत करते हैं; जो इसप्रकार है -

(वसंततिलका)

द्रव्यानुसारि चरणं चरणानुसारि

द्रव्यं मिथो द्वयमिदं ननु सव्यपेक्षम् ।

तस्मान्मुमुक्षुधिरोहतु मोक्षमार्गं

द्रव्यं प्रतीत्य यदि वा चरणं प्रतीत्य ॥५६॥^१

(दोहा)

चरण द्रव्य अनुसार हो द्रव्य चरण अनुसार ।

शिवपथगामी बनो तुम दोनों के अनुसार ॥५६॥

चरण द्रव्यानुसार होता है और द्रव्य चरणानुसार होता है - इसप्रकार वे दोनों परस्पर सापेक्ष हैं; इसलिए या तो द्रव्य का आश्रय लेकर अथवा तो चरण का आश्रय लेकर मुमुक्षु अर्थात् ज्ञानी श्रावक और मुनिराज मोक्षमार्ग में आरोहण करो ।

इस छन्द पर प्रवचन करते हुए स्वामीजी अपने भावों को इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं -

“भाई ! चरण द्रव्य के अनुसार होता है । द्रव्य की श्रद्धा-ज्ञान करके यथाशक्ति स्थिरता होते ही राग सहज ही निकल जाता है और द्रव्य के ज्ञान बिना राग यथार्थ रीति से मंद भी नहीं होता है ।

आत्मा का ज्ञान चरण अनुसार होता है । जो जीव माँस भक्षण करता हो, शराब पीता हो, लंपट हो, काले-धंधे करता हो, हजारों लोगों के नुकसान का भाव रखता हो, अनीति करता हो, निंद्य कार्य करता हो; उसे तो कभी भी आत्मा का भान नहीं हो सकता, वह मुमुक्षुपने के लायक ही नहीं है; परन्तु मैं अपना हित कर सकता हूँ - ऐसे वैराग्यभाववाले जीव को जितने प्रमाण में राग घटा है, उतने प्रमाण में अन्तर स्वरूप स्थिरता हुई है । जो जीव यथार्थ भानपूर्वक राग को कम करता है, उसे कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र को मानने का परिणाम नहीं रहता है ।

इसप्रकार उक्त दोनों भाव एक दूसरे की अपेक्षा सहित है । इसलिये आत्मा का

१. प्रवचनसार, श्लोक १२

सच्चा ज्ञान करके मोक्षमार्ग में आरोहण करो अथवा आत्मा के भान सहित राग को कम करके मोक्षमार्ग में आरोहण करो।

जो जीव सच्चा श्रद्धान-ज्ञान करता है; वह राग को घटाकर धीरे-धीरे शुद्धता की ओर बढ़ेगा और पूर्ण वीतरागी दशा प्रगट करेगा, इसलिये हे मुमुक्षुओ ! मोक्षमार्ग में आरोहण करो।^१”

इसप्रकार इस कलश में कहते हैं कि द्रव्यानुयोग के अनुसार सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्राप्त करके चरणानुयोगानुसार चारित्र धारण करना चाहिए। यही द्रव्यानुसार चरण है।

आत्मज्ञान के पहले जीवन में सदाचार अत्यन्त आवश्यक है। अष्ट मूलगुणों का पालन और सप्त व्यसनों का त्याग हुए बिना आत्मज्ञान होना असंभव नहीं दुःसाध्य अवश्य है, अत्यन्त दुर्लभ है। इसी को चरणानुयोगानुसार द्रव्य कहते हैं।

प्रश्न : सदाचारी जीवन बिना आत्मज्ञान संभव नहीं - यह कहने में आपको संकोच क्यों हो रहा है ?

उत्तर : इसलिए कि भगवान महावीर के जीव को शेर की पर्याय में ऐसा हो गया था; पर यह राजमार्ग नहीं है। राजमार्ग तो यही है कि सदाचारी को ही आत्मज्ञान होता है ॥५६॥

इसके बाद टीकाकार मुनिराज एक छन्द स्वयं लिखते हैं, जो इसप्रकार है -

(अनुष्टुभ्)

चित्तत्त्वभावनासक्तमतयो यतयो यमम् ।

यतंते यातनाशीलयमनाशनकारणम् ॥१३९॥

(दोहा)

जिनका चित्त आसक्त है निज आत्म के माँहि ।

सावधानी संयम विषेँ उन्हें मरणभय नाँहि ॥१३९॥

जिनकी बुद्धि चैतन्यतत्त्व की भावना में आसक्त है - ऐसे यति यम में प्रयत्नशील रहते हैं; संयम में सावधान रहते हैं। वह यम (संयम) यातनाशील यम अर्थात् मृत्यु के नाश का कारण है।

पूज्य गुरुदेवश्री कानजी स्वामी इस छन्द का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“अरे जीव! यदि तू शान्ति का इच्छुक है, जन्म-मरण की यातना से छूटना चाहता है; तो ऐसी मुनिदशा प्राप्त करना ही पड़ेगी। यतिगण अपने संयम में प्रयत्नशील वर्तते हुए यातनामय यम का नाश करते हैं। जो ऐसा वीतरागी संयम प्रगट करते हैं, उनको पुनः मातृकृष्ण में अवतरित नहीं होना पड़ता, उनके दुःखमय मरण का नाश हो जाता है। अहो जीवो! एक चैतन्य ही शरण है !!

१. दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-४७०

मरण से बचना हो तो उसका उपाय यह संयम है और यह संयम चैतन्यमूर्ति आत्मा के भान बिना प्रगट नहीं होता; इसलिए आत्मा को पहचानो, वही एक शरण है।^१”

इस छन्द में यही कहा गया है कि जिनकी बुद्धि आत्मानुभव में आसक्त है; ऐसे आत्मानुभवी मुनिराज चारित्र के निर्दोष पालन में सदा सावधान रहते हैं। यही कारण है कि उन्हें मृत्यु का भय नहीं सताता ॥१३९॥

नियमसार गाथा १०४

अब इस गाथा में अंतुर्मख सन्तों की भावशुद्धि का कथन करते हैं।

गाथा मूलतः इसप्रकार है -

सम्मं मे सव्वभूदेसु वेरं मज्झं ण केणवि।

आसाए वोसरित्ता णं समाहि पडिवज्जए ॥१०४॥

(हरिगीत)

सभी से समभाव मेरा ना किसी से वैर है।

छोड़ आशाभाव सब मैं समाधि धारण करूँ ॥१०४॥

सभी जीवों के प्रति मुझे समताभाव है, मेरा किसी के साथ बैर नहीं है। वस्तुतः मैं आशा को छोड़कर समाधि को प्राप्त करता हूँ।

इस गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं-

“इस गाथा में अंतुर्मख परम तपोधन की भावशुद्धि का कथन है।

समस्त इन्द्रियों के व्यापार से मुक्त मुझे भेदज्ञानियों तथा अज्ञानियों के प्रति समताभाव है, भिन्न-अभिन्नरूप परिणति के अभाव के कारण मुझे किसी भी प्राणी से बैर-विरोध नहीं है, सहज वैराग्यपरिणति के कारण मुझे कोई भी आशा नहीं है, परम समरसीभाव से संयुक्त परम समाधि का मैं आश्रय करता हूँ।”

पूज्य गुरुदेवश्री कानजी स्वामी इस गाथा का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“अहो! मैं ज्ञानस्वभावी चैतन्यवस्तु हूँ। मैं किसी का मित्र या शत्रु नहीं और न कोई दूसरा मेरा मित्र या शत्रु है, इसलिये मुझे किसी के प्रति आशा नहीं है और न किसी के प्रति वैर है। मैं तो सर्वप्रकार की आशा छोड़कर चैतन्य में लीन होता हूँ - राग-द्वेषरहित परमसमाधि प्रगट करता हूँ। हे जगत के जीवो! हमने जैसा किया है वैसा तुम भी करो।”

आचार्यदेव स्वयं कहते हैं कि जिसने श्रद्धा और स्थिरता - इन दोनों अपेक्षाओं

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ८३६

२. वही, पृष्ठ ८३७

से इन्द्रियों के व्यापार को छोड़ा है - ऐसे मुझे सर्वजीवों के प्रति समता है। हम तो ज्ञातादृष्टा हैं। तत्त्व का स्वीकार करनेवाले ज्ञानी हों अथवा सत्य की निन्दा करनेवाले अज्ञानी हों - दोनों के प्रति हमें राग-द्वेष नहीं है। जिन्हें पुण्य-पाप के विकार से रहित शुद्ध ज्ञानानन्द आत्मा का साक्षात्कार हुआ है - ऐसे हमारे जैसे धर्मात्मा के प्रति भी हमें राग नहीं है। तत्त्व का विरोधी हो तो उसके प्रति भी यह ऐसा क्यों? इसप्रकार का विकल्प भी हमारे मन में नहीं उठता। वे अपनी योग्यता से चाहे जैसे परिणामे, उससे हमें कोई राग-द्वेष नहीं है।^१

प्रश्न :- अन्य सभी के प्रति तो समता हो, परन्तु किसी एक व्यक्ति के प्रति यदि कुछ खटक रह जावे तो ?

उत्तर :- जिसे एक व्यक्ति के कारण खटका है, उसे सबके साथ खटका है। ज्ञानी को जो कुछ अस्थिरता के कारण द्वेष होता है, वह अपने अपराध से है, सामनेवाले व्यक्ति के कारण से नहीं। अस्थिरता का अपराध किसी अन्य व्यक्ति के कारण बनता है - यह मान्यता यथार्थ नहीं है। यदि ऐसा हो तो उसका लक्ष छूटकर आत्मा में कभी भी स्थिर नहीं हुआ जा सकता।

त्रिलोकीनाथ तीर्थकरदेव के दर्शन हों तो उनके कारण हमें भक्ति का राग नहीं होता और कोई सर फोड़नेवाला वैरी हो तो उसके प्रति हमें द्वेष नहीं आता। हम तो हमारे ज्ञानस्वभाव में - शान्त उपशमरसस्वरूप समता में हैं - इसे भगवान ने प्रत्याख्यान कहा है। देखो ! आचार्यदेव डंके की चोट कहते हैं कि हे भव्यजीवो ! तुम भी हमारे जैसे ही हो। तुम्हारे में भी अन्दर ज्ञानानन्द चैतन्य की समता शक्ति में पड़ी है, उसका तुम निर्णय करो।^२

चाहे जैसे संयोग हों, तथापि हमें उनके प्रति अनुकूलता-प्रतिकूलता का भाव नहीं आता। हम तो आधि-व्याधि-उपाधिरहित परमसमाधि का आश्रय करते हैं। स्त्री, पुत्र, मकान, लक्ष्मी आदि बाह्य पदार्थ के लक्ष से होनेवाले भाव को उपाधि कहते हैं, शरीर में रोग होने पर उसकी तरफ लक्ष जानेवाले भाव को व्याधि कहते हैं तथा अन्दर में पुण्य-पाप के अनेक प्रकार के होनेवाले विकल्पों को आधि कहते हैं। उन आधि-व्याधि-उपाधि के भावों से रहित सच्चिदानन्द आत्मा का भान करके उसमें एकाग्र होकर ठहरने को समाधि कहते हैं। इस समाधि का नाम चारित्र है।^३

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ८४०

२. वही, पृष्ठ ८४२

३. वही, पृष्ठ ८४३

लौकिकजन प्राणायामादि जड़ की क्रिया को समाधि मानते हैं, परन्तु वह तो जड़ हो जाने का मार्ग है, वह आत्मा की सच्ची समाधि नहीं है, उससे आत्मा की शान्ति रंचमात्र भी प्रगट नहीं होती। वास्तव में तो आधि-व्याधि-उपाधि से रहित ज्ञानानन्द शान्तस्वभावी मैं हूँ - ऐसे आत्मा का यथार्थ भान करके उसमें एकाग्रता करना ही परम समाधि है।^१

इस गाथा में आचार्यदेव द्वारा अत्यन्त सरल व सीधी-सपाट भाषा में यह कहा गया है कि मेरा तो सभी जीवों के प्रति समताभाव है। मेरा किसी से कोई वैर-विरोध नहीं है। मेरी भावना तो यही है कि मैं सभी प्रकार की आशा-आकांक्षा को छोड़कर समाधि को प्राप्त करूँ। यह आचार्यदेव ने उत्तमपुरुष में सभी भावलिङ्गी सन्तों की ओर से कहा है। यह न केवल उनकी बात है, अपितु सभी सन्तों की यही भावना होती है।

मानसिक विकल्पों को आधि, शारीरिक विकल्पों को व्याधि और परपदार्थों संबंधी विकल्पों को उपाधि कहते हैं। उक्त तीनों प्रकार के विकल्पों से मुक्त होकर निर्विकल्पदशा को प्राप्त करना ही समाधि है। सभी सन्तों की यह समाधिस्थ होने की भावना ही निश्चय-प्रत्याख्यान है ॥१०४॥

इसके बाद तथा चोक्तं श्री योगीन्द्रदेवैः - तथा श्री योगीन्द्रदेव ने भी कहा है -
ऐसा लिखकर एक छन्द प्रस्तुत करते हैं, जो इसप्रकार है-

(वसंततिलका)

मुक्त्वालसत्वमधिसत्त्वबलोपपन्नः

स्मृत्वा परां च समतां कुलदेवतां त्वम् ।

संज्ञानचक्रमिदमंग गृहाण तूर्ण-

मज्ञानमन्त्रियुतमोहरिपूपमर्दि ॥५७॥^२

(रोला)

हे भाई ! तुम महासबल तज कर प्रमाद अब ।

समतारूपी कुलदेवी को याद करो तुम ॥

अज्ञ सचिव युत मोह शत्रु का नाशक है जो ।

ऐसे सम्यग्ज्ञान चक्र को ग्रहण करो तुम ॥५७॥

हे भाई ! स्वाभाविक बल सम्पन्न तुम प्रमाद को छोड़कर उत्कृष्ट समतारूपी कुलदेवी का स्मरण करके अज्ञानमंत्री सहित मोहराजारूप शत्रु का नाश करनेवाले सम्यग्ज्ञानरूपी चक्र को शीघ्र ग्रहण करो । (क्रमशः)

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ८४४

२. अमृताशीति, श्लोक २१

